

शिक्षा नीति ट्विटर पर तय नहीं हुआ करती

रोहित धनकर

“ नई शिक्षा नीति पर विचार विमर्श एक तयशुदा सांचे में हो रहा है। इस परामर्श के मुद्दे कुछ खास मान्यताओं के साथ पहले से तय कर दिए गए हैं। यह लेख नई शिक्षा नीति पर चल रहे विचार विमर्श की प्रकृति और अन्तर्निहित मान्यताओं की आलोचनात्मक छानबीन करता है। ”

मानव संसाधन विकास मंत्री की खुशी आजकल छिपाए नहीं छिप रही है। उन्होंने इस बात पर बार-बार तसल्ली जताई है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर चली पहले चरण की चर्चाओं में इतने सारे लोगों ने हिस्सेदारी की है। यह चर्चा फिलहाल mygov.in नामक सरकारी इंटरनेट वेबसाइट पर चल रही है। एक लोकतंत्र में नीतिगत मुद्दों पर जितने ज्यादा लोगों की हिस्सेदारी होगी, मुल्क के लिए उतना ही बेहतर होगा। कम से कम सिद्धांत के धरातल पर तो इस बारे में कोई दो-मत नहीं है। लिहाजा, इस मामले में उनकी तसल्ली जायज है। मगर, इस बात की कल्पना करना भी मुश्किल नहीं है कि अगर लोगों की राय सिर्फ 500 अक्षरों में, जी हां, शब्द नहीं, केवल अक्षर जिनमें विराम चिह्न भी शामिल हैं; और वह भी पहले से निर्धारित मुद्दों पर ही मांगी जा रही हो तो उसे चर्चा की बजाय केवल बेतरतीब और लाजिमी तौर पर अंतर्विरोधी सुझावों का गुच्छा ही कहा जा सकता है। पुनः, हर ओर से परस्पर विरोधी मत आना और सार्वजनिक बहस चलना भी एक स्वस्थ लोकतंत्र का लक्षण होता है। मगर यह कहानी का एक हिस्सा है। दूसरा हिस्सा यह है कि अगर इन अलग-थलग सिफारिशों को शिक्षा की वास्तविक बेहतरी के लिए एक व्यवस्थित शक्ति देनी है तो इन अंतर्विरोधों को हल करना जरूरी है। कहने का मतलब यह है कि इन अलग-थलग सुझावों को एक व्यवस्थित तर्क के सूत्र में पिरोना जरूरी होता है। हमारे दृष्टिकोणों में मौजूद इन अंतर्विरोधों को केवल तर्कों के सहारे और एक स्वीकृत सैद्धांतिक रूपरेखा के आधार पर ही हल किया जा सकता है। यह समझने के लिए किसी गुरु-गंभीर विश्लेषण की जरूरत नहीं है कि 500 अक्षरों में कोई अर्थपूर्ण तर्क देना लगभग असंभव है। और अगर उपरोक्त वेबसाइट पर आए मतों को देखा जाए तो यह बात खुद ही जाहिर हो जाती है। लिहाजा, ऐसे में यह निष्कर्ष लाजिमी हो जाता है कि इस पद्धति से दृष्टिकोणों के आदान-प्रदान का तरीका ही खंडीकरण को बढ़ावा देता है।

मगर यह खंडित विवेक का ही युग है। समाज को यह मानने के लिए तैयार किया जा रहा है कि ट्विटर शैली में यहां-वहां विचारों के टुकड़े बिखरेना ही 'चिंतन' होता है। हवा में तैरते विचारों के ये खंड ही ट्विटर युग का विवेक हैं। इस बात पर कोई ध्यान नहीं देना चाहता कि मानव मस्तिष्क में 'विचारों के खंड और अंश'

केवल एक संदर्भ में ही अर्थ ग्रहण करते हैं। विचारों के टुकड़ों से पैदा हुआ विमर्श ऐसे संदर्भ के बिना सिर्फ धूल का एक गुबार भर है जो दिमाग की आंखों पर छा जाता है और उन्हें अंधा कर देता है। सरकार द्वारा अभी तक चलाई जा रही नीति व चर्चाएं, चाहे सोच-समझ कर चलाई गई हों या नासमझी का नतीजा हों, वे विचारों के ऐसे कणों से पैदा हुए गुबार से ज्यादा और कुछ नहीं हैं।

यहां जिस सामान्य संदर्भ की आवश्यकता है वह हमारी संस्कृति और राजनय में निहित है। यह मान्यता सिर से गलत है कि सभी लोग सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जरूरतों को एक ही तरह से देखते हैं। कभी-कभार कोई समझ में आने लायक बात कहने के अलावा ट्विटिंग कभी भी किसी व्यवस्थित तर्क के स्तर तक नहीं पहुंचती जिससे शिक्षा की जरूरतों को राजनीति, सांस्कृतिक और आर्थिक जरूरतों के साथ समेकित करने जैसे बड़े मुद्दों पर सहमति विकसित की जा सके। ट्विटिंग की दुनिया अपनी राय को टुकड़ा-टुकड़ा कहते जाने की दुनिया है। यह तकनीक विचारों और मतों के आदान-प्रदान का भ्रम-सा रच देती है जबकि सहभागियों के असली मंसूबे दलील और तर्क या तो अस्पष्ट रहते हैं या बहुत धुंधले दिखाई देते हैं। लिहाजा, इस कोशिश का एक विश्लेषण करना जरूरी है।

विचार-विमर्श की गुणवत्ता

आम समझदारी के हिसाब से नीति असल में सिद्धांतों का एक समूह होती है। ये सिद्धांत राज्य की कार्य दिशा तय करने के लिए कसौटी का काम करते हैं और इनके आधार पर विभिन्न सुझावों व सिफारिशों की स्वीकार्यता या अस्वीकार्यता का आकलन किया जाता है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय अपने विचार-विमर्श के जरिए इसी तरह की नीतिगत रूपरेखा तय करने की उम्मीद रखता है। उपरोक्त इंटरनेट वेबसाइट पर ऐलान किया गया है कि मंत्रालय ने एक समूह का गठन किया है और 'एक समावेशी, सहभागी और समग्र पद्धति के जरिए देश के लिए एक नई शिक्षा नीति तय करना इस समूह का उद्देश्य है।' मंत्रालय इस वेबसाइट पर कथित 'चर्चा' के अलावा 'पूर्व-निर्धारित प्रश्नावली सर्वेक्षण फॉर्मों' के सहारे एक राष्ट्रव्यापी परामर्श प्रक्रिया भी आयोजित करना चाहता है। मंत्रालय ने जिस समूह का गठन किया है वह रहस्य के आवरण में है। इस समूह में कौन लोग हैं यह उस आम जनता को भी नहीं बताया जा रहा है जिनसे नीतिगत मुद्दों पर राय मांगी गई है।

इस ढंग से नीति निर्धारण में कम से कम दो गंभीर पद्धतिगत समस्याएं हैं। एक, ट्विटर शैली में आने वाले दृष्टिकोणों को सार्थक बनाने के लिए उनकी व्याख्या जरूरी है। सारा डेटा जनता को उपलब्ध नहीं कराया जा सकता। लिहाजा, इन दृष्टिकोणों की व्याख्या करना इस रहस्यमयी समूह का विशेषाधिकार है जो पर्दे के पीछे से काम कर रहा है। जैसा कि पीछे उल्लेख किया गया है, व्याख्या के लिए सामान्य विचारों की एक रूपरेखा जरूरी होती है, इस पर जनता में चर्चा नहीं की जा रही है। यानी, इस पर पूर्व-निर्धारित नीति निर्देशों को ध्यान में रखते हुए अपनी मर्जी से जोड़-तोड़ की जा सकती है। इस प्रकार, एक प्रभावहीन सार्वजनिक चर्चा के जरिए चुने गए लोगों के छोटे से समूह द्वारा पहले से लिए जा चुके फैसलों पर वैधता की मोहर लगा दी जाएगी।

दूसरी बात, मूलभूत निर्धारित दिशा निर्देशों के अभाव में अगर आम सहमति के लिए गंभीरता से कोशिश की जाए तो भी यह प्रसिद्ध शिक्षा दार्शनिक जॉन व्हाइट के शब्दों में केवल एक 'एचसीएफ समस्या' से ज्यादा नहीं होगी। ऐसी स्थिति में अस्पष्ट और धारहीन सिफारिशों की एक सूची तैयार कर ली जाती है और सामाजिक न्याय व समता जैसे विवादास्पद मुद्दों को केवल इसीलिए बाहर धकेल दिया जाता है क्योंकि वे विवादास्पद हैं और उन पर आसानी से आम सहमति नहीं बनाई जा सकती। लिहाजा, ऐसी कवायद में समाज की असली चिंताओं पर बहुत कम जोर दिया जाएगा या उन्हें सिर से खारिज कर दिया जाएगा।

पद्धति और संदेश

वेबसाइट पर प्रारंभिक शिक्षा से संबंधित जो 13 थीम या विषय क्षेत्र सुझाए गए हैं, वे चर्चा के दायरे और इरादे को समझने के लिए बहुत दिलचस्प दिखाई पड़ते हैं। प्रत्येक थीम के बारे में 200 से 300 शब्दों का परिचयात्मक पैराग्राफ दिया गया है। ज्यादातर सवाल कार्य प्रणाली की बारीकियों से संबंधित हैं जिनका लाजिमी तौर पर नीति से कोई संबंध नहीं होगा।

उदाहरण के लिए, एक सवाल में यह पूछा गया है कि अध्यापकों की हाजिरी सुनिश्चित करने के लिए तकनीक का इस्तेमाल कैसे किया जा सकता है। जिस तरह से सवाल को शब्दबद्ध किया गया है उसी से यह साफ हो जाता है कि सवाल यह नहीं है कि 'तकनीक का इस्तेमाल किया जाना चाहिए या नहीं' बल्कि सवाल सिर्फ यह है कि 'उसे कैसे इस्तेमाल किया जाना चाहिए।' अगर सवाल यह होता कि 'क्या इसके लिए तकनीक का इस्तेमाल किया जाना चाहिए?' तो अध्यापकों के प्रति विश्वास, उनकी स्वायत्तता, दायित्व और प्रतिष्ठा जैसे गंभीर सवाल खड़े हो जाते जो एक अच्छे अध्यापक के लिए बहुत मायने रखते हैं। इन सवालों पर चर्चा के बिना ही इस सवाल को बंद कर देने का मतलब यह है कि इस बारे में पहले ही तय कर लिया गया है कि अगर सख्त निगरानी और सजा का डर दिखाया जाए तो अध्यापकों को अच्छी तरह पढ़ाने के लिए बाध्य किया जा सकता है। क्या अध्यापकों को प्रभावी बनाने के लिए 'तकनीक का प्रयोग किया जा सकता है या नहीं', यह एक गंभीर नीतिगत सवाल हो सकता था क्योंकि इसमें सामान्य सिद्धांत प्रासंगिक हो जाते हैं। इस पहलू को नजरअंदाज करके और केवल 'कैसे' पर ध्यान केंद्रित करके इसे एक ऐसा तकनीकी प्रश्न बना दिया गया है जिसका नीति से कोई खास संबंध नहीं है और केवल संदर्भगत क्रियान्वयन की बारीकियों से लेना-देना है। ज्यादातर सवाल कमोबेश इसी किस्म के हैं।

पहले से 'तय हो चुके' नीतिगत निर्णय अलग-अलग थीम्स के परिचय में ही छिपे हुए हैं। मसलन, स्कूल स्तरीय परीक्षाओं से संबंधित थीम में कहा गया है कि परीक्षा 'सुधार अध्यापन-शिक्षण प्रक्रियाओं को बदल देंगे और बच्चों के सीखने के स्तर को बेहतर बनाएंगे।' यह चर्चा का एक महत्वपूर्ण मुद्दा हो सकता है कि 'परीक्षा केंद्रित सुधार' सफल हो सकते हैं या नहीं? क्या परीक्षा केंद्रित सुधार 'परीक्षाओं के लिए पढ़ाने' को बढ़ावा देंगे और क्या आलोचनात्मक तर्कशीलता के उद्देश्य को धराशायी तो नहीं करेंगे? क्या हमारी शिक्षा व्यवस्था पहले ही परीक्षाओं की दहशत से नहीं कांप रही है? मगर परीक्षा केंद्रित सुधारों को तो इस नीतिगत चर्चा में लगभग आस्था का विषय बना दिया गया है।

एक सार्थक और निष्पक्ष चर्चा की संभावना

में शिक्षा नीति के लिए सार्वजनिक चर्चा के खिलाफ नहीं हूं; न ही मैं शैक्षिक महत्व के ब्यौरों और मुद्दों पर चर्चा के खिलाफ हूं। किसी भी लोकतांत्रिक देश में राष्ट्रीय शिक्षा नीति तय करने के लिए ये दोनों ही अनिवार्य आवश्यकताएं हैं। मैं तो सिर्फ इस विसंगति की ओर इशारा कर रहा हूं कि परिप्रेक्ष्यगत व्यापक मुद्दों के अभाव में केवल पूर्व-निर्धारित प्रश्नों के जरिए छोटी-छोटी बारीकियों पर जो चर्चा की जा रही है वह एक गहन और निष्पक्ष चर्चा की संभावना को बहुत कुंद कर देती है।

फिलहाल भारतीय शिक्षा को तीन दिशाओं में खींचा जा रहा है। एक तरफ तो शिक्षा को आर्थिक उन्नति की जरूरतों से बांधने की कोशिश की जा रही है। इसमें युवाओं के व्यवहारिक कौशल को बढ़ाने और पर्याप्त श्रम शक्ति तैयार करने पर जोर दिया जा रहा है। दूसरी तरफ शिक्षा को लोकतंत्र और सामाजिक न्याय की दिशा में खींचा जा रहा है। इसके लिए समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था तथा एक ज्यादा समतापरक व सामंजस्यपूर्ण समाज के निर्माण के लिए आवश्यक मूल्य-मान्यताओं की आलोचनात्मक समझदारी पर जोर दिया जा रहा है। तीसरी तरफ शिक्षा व्यवस्था को भारतीय संस्कृति और इतिहास की एक खास व्याख्या की दिशा में मोड़ा जा रहा है। यह खिंचाव दिन-प्रतिदिन तीखा होता जा रहा है। इस दबाव के तहत पाठ्यचर्या में हिंदू नायकों, गीता, सूर्य नमस्कार और योग जैसे तत्वों को

शामिल करने पर सारा जोर लगाया जा रहा है। इन तीनों दिशाओं में पड़ रहे खिंचाव अलग-अलग बौद्धिक क्षमताओं, नैतिक मनोदशा और व्यवहारिक कौशलों को इंगित करते हैं। उदाहरण के लिए, आर्थिक दिशा बाजार-योग्य कौशलों पर जोर देते हुए राजनीतिक समालोचना और सामाजिक न्याय के मुद्दों को हाशिए पर धकेल देती है। इससे एक कुशल मगर दबू श्रमशक्ति पैदा होती है और उपभोक्तावाद को बढ़ावा मिलेगा। दूसरी तरफ, अगर केवल सामाजिक न्याय के लिए शिक्षा पर जोर दिया जाता है और आजीविका अर्जित करने की क्षमताओं पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है तो कोठारी कमीशन के शब्दों में, हम रोजगारों के लिए अयोग्य स्नातकों की फौज खड़ी कर देंगे और इससे सामाजिक न्याय का लक्ष्य साकार करने में भी कोई मदद नहीं मिलेगी। भारतीय संस्कृति और इतिहास की एक पक्षपातपूर्ण और एकांगी समझदारी पर जोर देने से एक खंडित और तनावग्रस्त समाज पैदा होगा जो आर्थिक उन्नति और लोकतंत्र व सामाजिक न्याय दोनों को धराशायी कर देगा।

अध्यापकों की गैरहाजिरी पर अंकुश लगाने के लिए तकनीक के प्रयोग या परीक्षा केंद्रित सुधार जैसे खास मुद्दों पर सार्थक चर्चा के लिए इन मुद्दों पर कुछ पूर्व-मान्यताओं को लेकर चलना लाजिमी हो जाता है। मिसाल के तौर पर, अगर अध्यापकों से उम्मीद की जाती है कि वे केवल आर्थिक रूप से उपयोगी कौशल ही पढ़ाएं तो तकनीक के इस्तेमाल को निश्चय ही जायज ठहराया जा सकता है लेकिन, अगर स्कूल का मकसद यह है कि आलोचनात्मक योजना से लैस आत्मानुशासित नागरिकों का समूह तैयार किया जाए तो अध्यापक के प्रति विश्वास और उसके पास स्वायत्तता का अभाव इस लक्ष्य की प्राप्ति में एक गंभीर रुकावट बन सकता है।

सरकार वृहत्तर परिप्रेक्ष्यगत मुद्दों पर केवल ट्विटर शैली में या गुरिल्ला अंदाज में ही संकेत दे रही है। सरकार यहां-वहां एकाध अलग-थलग वक्तव्य दे देती है, मगर किसी स्थायी और गंभीर चर्चा के प्रति इच्छुक नहीं है। दूसरी तरफ, पूर्व-निर्धारित थीम्स और प्रश्नों के जरिए बेहद संकुचित मुद्दों को सार्वजनिक बहस के पटल पर रख दिया गया है। यह तरीका असली नीतिगत मुद्दों पर चर्चा को समाप्त कर देता है और उन पर फैसला लेना केवल मुट्ठी भर चुने गए लोगों की बपौती बन जाता है। कुल मिलाकर यही लगता है कि एक खुली लोकतांत्रिक बहस का महज भ्रम पैदा किया जा रहा है जिसमें जनता की सारी बुद्धि केवल छिटपुट ब्यौरों पर नूरा-कुश्ती में जाया की जा रही है। ♦

(इस लेख का संक्षिप्त रूप अंग्रेजी दैनिक 'द हिन्दू' में 27 जून, 2015 को प्रकाशित हो चुका है। मूल लेख का विस्तारित और हिन्दी रूप यहां प्रकाशित है।)

लेखक परिचय: रोहित धनकर अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं अकादमिक विकास के निदेशक हैं और दिगन्तर, जयपुर के संस्थापक सदस्य एवं अकादमिक सलाहकार हैं।

भाषान्तर : योगेन्द्र दत्त

भूल सुधार

शिक्षा विमर्श के सितम्बर-अक्टूबर, 2015 अंक में शिक्षा के समाजशास्त्र कॉलम में 'वर्गीय असमानता और शिक्षा: एक परिचय -अमन मदान' का आलेख प्रकाशित हुआ था। इस आलेख को अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद श्री रविकांत द्वारा किया गया था, आलेख में अनुवादक का नाम भूल वश देने से छूट गया था।

अतः इस आलेख में **अनुवादक का नाम रविकांत** पढ़ा जाए।

संपादक